

संवाद और भाषा शैलीविशेषकर आदिवासी साहित्यकारों के सन्दर्भ में :-

उषा किड़ो

आदिवासियों से सम्बंधित अधिकांश रचनाओं में, लेखक चाहे आदिवासी हो या गैर आदिवासी, रचनाओं की विषय-वस्तु में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता है। आदिवासी विमर्श के नाम पर आदिवासी साहित्यकारों तथा गैर आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा कई रचनाएँ रची गई हैं और रची जा रही है फिर भी आदिवासी विमर्श अपनी चरम स्थिति पर है। आज तक आदिवासी विमर्श के नाम पर आदिवासियों की मुख्य समस्याएँ विस्थापन, पलायन एवं पिछड़ेपन पर ही लिखा जाता रहा है। इन रचनाकारों के द्वारा आदिवासियों की दयनीय स्थिति पर ही जोर दिया जाता है। हालाँकि कुछ आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में भोगे हुए का अहसास होता है अर्थात् उन्होंने जो जीया वही लिखा है।

विषय वस्तु को लेकर भले ही आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों की लेखन प्रक्रिया एक हो किन्तु कुछ एक आदिवासियों की रचनाओं में जीवंतता नजर आती है। उनकी रचनाओं में पूरा आदिवासी समाज या आदिवासियों की जीवन शैली कथावस्तु के इर्द गिर्द घूमने लगती है। जैसे रोज केरकेट्टा की कहानियों को ही ले लें। उनकी कहानियाँ सिर्फ कहानियाँ नहीं कहती हैं बल्कि मानस पटल पर अनायास ही चलचित्र की भाँति सामने झलकने लगती हैं। वैसे ही पीटर पॉल एक्का की कहानियों या उपन्यासों को लें या वाल्टर भेंगरा तरुण की कहानियों को लें। रचनाओं में जंगल झाड़, पहाड़-पर्वत, कंद-मूल, फल-फूल, पशु-पक्षियों के

साथ-साथ आदिवासियों की दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त होने वाली छोटी-छोटी गतिविधियाँ, पर्व-त्योहार सभी साथ-साथ चलते हैं।

साहित्य लेखन के क्रम में भाषा शैली और संवाद को लेकर आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों की रचनाओं में बहुत अंतर है। संवाद के रूप में जिस भाषा शैली का प्रयोग रोज केरकेट्टा करती हैं वैसा किसी अन्य आदिवासी साहित्यकारों में भी नहीं है। हालाँकि भाषा शैली के रूप में आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में अपनी मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा के साथ-साथ झारखंडी हिंदी भाषा का प्रयोग मिलता है। मंगल सिंह मुंडा और रामदयाल मुंडा की कहानी संग्रह, मुंडा और हिंदी दोनों भाषाओं में एक साथ संकलित है।

राजेंद्र अवस्थी ने अपने उपन्यास जंगल के फूल में अधिक चमत्कारपूर्ण बनाने के उद्देश्य से जिस गोंडी शब्दों का इस्तेमाल किया है, वह पाठक को अति महसूस कराता है। ऐसा लगता है वाक्यों के बीच में गोंडी शब्द जबरदस्ती डाला गया है। ऐसे में पाठक को जो रस मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाता है। हालाँकि गैर आदिवासी साहित्यकार तथा आदिवासी साहित्यकारों ने भी अपनी रचनाओं में अपनी मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग किया है, लेकिन उनमें जबरदस्ती का अनुभव नहीं होता।

कुछ एक आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में ऐसे संवादों और उक्तियों का प्रयोग किया गया है जिसे एक गैर आदिवासी साहित्यकार तो क्या, आदिवासी साहित्यकारों को भी समझने में मुश्किल होगी, जो उस इलाके से सम्बन्ध नहीं रखते हों या उस जीवन को नहीं जीया हो। वाल्टर भेंगरा तरुण की उक्ति है – “भात पाक गया था तो उसने माड़ पसाकर अलग रख लिया। कुछ तो वह फुटकल झोर बनाने के लिए रखेगी और थोड़ा माड़ वह अपनी साड़ी में लगायेगी। साड़ी में माड़ लगाने से कड़क हो जाती है और पहनने में भी अच्छा लगता है। लेकिन अगर उसे लोहा से इस्त्री कर दो तो और भी मत पूछो। उसकी एक सहेली है गुड़िया कुमारी। उसका एक चाचा रांची में रहता है। उसने उसके लिए एक लोहा की इस्त्री ला दिया है। गुड़िया अपने कपड़ों को उसी लोहे की इस्त्री से चिकना करती है। बहुत ही अच्छे लगते हैं उसके कपड़े। तब से उसने अपने कपड़ों को माड़ लगाने के बाद चिकना करना शुरू कर दिया है। लोहे की इस्त्री तो नहीं है लेकिन उसकी मां को शादी के समय जो कांसे का लोटा मिला था, उसका पेंदा बहुत चिकना और सपाट था, वह उससे इस्त्री करती हैं।”¹ इस प्रकार की उक्ति गैर आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में नहीं मिलेगी। आदिवासियों के ऊपर लिखने के क्रम में उनके खान-पान को लेकर माड़ झोर तक आ सकते हैं किन्तु आदिवासी बालाएँ रिवाईव के रूप में माड़ का इस्तेमाल करेंगे, शैम्पू

के रूप में नगड़ा मिट्टी का उपयोग करेंगेया इस्त्री के रूप में कांसे लोटे का इस्तेमाल करेंगे यह उनके सोच से परे है।

“मैं अभी झींगी बनाती हूँ। उसमें सूखी मछली डाल दूंगी, मजेदार बन जायेगी।”² इस प्रकार का लेखन थोड़ी बहुत जानकारी लेकर काफी नहीं है बल्कि ऐसे वर्णनों के लिए उस जीवन को जीना होगा, तभी उस अनुभूति और आदिवासी जीवन की छोटी-छोटी गतिविधियों में पाए जाने वाले आनन्द को अपनी लेखनी में उतार सकता है। यह तो रही साहित्यकारों की बात। अगर पाठकों की भी बात की जाए तो आदिवासी समाज से ताल्लुक नहीं रखने वाले पाठकों के अन्दर भी कुछ पल्ले नहीं पड़ने वाला है। उन्हें यह कतई विश्वास नहीं होगा कि नगड़ा मिट्टी शैम्पू का काम कर सकता है या माड़ रिवाइव का। उसी प्रकार झींगी में सूखी मछलीका मिश्रण उन्हें अटपटा सा लगेगा वे कहेंगे ये कैसा सम्मिश्रण है ? किन्तु झींगी में सूखी मछली का मिश्रण भोगे हुए और उस जीवन को जीए हुए पाठक को रसानुभूति की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ लेखक वाल्टर भेंगरा तरुण लिखते हैं – **“अब जब मछलियाँ खेतों और डोभों में न भी मिलीं तो किसी भी सब्जी में सूखी मछली मिला दो तो तियान का स्वाद ही दोगुणा हो जाता है।”³**

रोज केरकेट्टा की भाषा शैली का एक उदहारण **बाही** शीर्षक कहानी से है। कहानी में जो वार्तालाप है, उसकी रसानुभूति शायद ही आप कर पाएँगे उस

वार्तालाप के पीछे का लय भी कुछ अलग है यथा— 'नीचे से उसकी दीदी सोमारी गेंडूडांग से पके फल चुनचुन कर तोड़ रही थी मरियम बाही की आवाज सुनकर पेड़के नीचे से बोली—

'हमारे लिए भी हिला दो न बाही, चुनकर खाएँगे ।

बाही— तुमलोग भी चढ़ो और खाओ ना मामी (फूफू), तुम लोगों का भी तो हाथ—पैर है।'

मरियम — 'ओहरे बाही, हिला दो कह रही हूँ तो मुझे ही पेड़चढ़ने कह रही है।'

बाही— 'हाँ तो मामी, तुम्हारा भी तो हाथ— पैर है । मैं भी तो यही बोल रही हूँ।'⁴

सहज वर्णन के क्रम में रोज करकेट्टा की कहानियों में खड़िया नागपुरी देशज शब्दों की भरमार है। जैसे फरदी धोती, फोसफोसी, लटेइर, ठेठमुंगरा, पोगोइरढाहा भूति आदि। जैसे एक उदाहरण वाक्य के रूप में — "पोगोइरढाहा कहीं का। इसीलिए तुम यहाँ आते थे। यही कमाते थे आज भूती मिल गया।"⁵

उपर्युक्त आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में हम पाते हैं कि उनकी भाषा शैली एवं संवाद योजना क्षेत्रीयता और ग्रामीण परिवेश का अहसास दिलाती हैं

सन्दर्भ

¹लौटते हुए, वाल्टर भेंगरा तरुण, पृ. सं-176

²वही, पृ. सं-184

³वही, पृ. सं-186

⁴पगहा जोरी जोरी रे घाटो, रोज केरकेट्टा, पृ. सं-75

⁵वही, पृ. सं-135